

बाल जीवनी माला

प्रेमचंद



पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड

नई दिल्ली

पहला हिन्दी सस्करण

१९६२

लेखक

ना गा र्जु न



प्रेमचंद

एक

सपना. .



गोरी सूरत, घनी-काली भौहें, छोटी-छोटी आंखें, नुकीली नाक, बड़े-बड़े बाल...

गुछी हुई विरल मूछोंवाला यह मुस्कराता चेहरा किसका है?

यह चेहरा प्रेमचंद का है।

लगता है, अभी हंसने वाले हैं।

लगता है, अभी जोरों के कहकहे लगायेंगे।

कॉपी और कलम मेरे सामने हैं। मैं प्रेमचंद के सामने अभी-अभी आकर बैठा हूँ।

प्रेमचंद की यह छवि, लगा, सहसा सचेतन हो उठी है...

जोरों के ठहाके...

"नहीं जी, अब मैं बिल्कुल स्वस्थ हूं। तुम रत्ती-

भर फिक्र मत करो...मगर यह कॉपी-कलम क्यो लाये हो ?"

"जी, आपके बारे मे कुछ लिखना था. ."

"मेरे बारे मे ?"

"जी, बच्चो के लिए। किशोरो के लिए।"

अब प्रेमचद ने जोरो के कहकहे लगाये। बोले—"मैं तो भई, डर गया था कि कागज कलम लेकर आया है, जाने क्या-क्या नोट करके ले जायेगा, जाने क्या-क्या छपवा देगा अखबारो मे !"

"आप अखबार वालो से डरते है ?"

"हा भई, बहुत डरता हू..."

"वे आपका फोटो भी तो छापते है।"

इस पर प्रेमचद मुस्कराते रहे। फिर बोले, "एक-एक बीड़ा पान का जमा ले फिर बैठें . वो देखो, आ गई रानी पान लेकर. ."

फिर वही कहकहे..

पलटकर मैने शिवरानी जी को देखा और दोनो हाथ जोड़कर बोला—"प्रणाम, अम्मा !"

"मस्त रहो बेटा ! तुम्हारी आवाज सुनी तो पान लेकर आई . ." बाबू जी ने फिर जोरो के ठहाके लगाये..

शिवरानी देवी मुस्कराती रही। पान देकर चली गयी।

वह बोले, "अब हम गाव मे ही बस गये। लमही की मिट्टी का मोह हमसे भला कैसे छूटता ? गुजारे के लिए किताबो की बिक्री से पैसे आ जाते हैं। धुन्नू और बन्नू ने अपना-अपना धधा सभाल लिया है। बेटी और दामाद सागर, मध्य प्रदेश, मे है और ठीक हैं। स्कूल और कॉलेज बद होने पर कभी-कभी परिवार के सारे बच्चे यहा इकट्ठे हो जाते हैं। तब लमही वाले हमारे इस घर मे स्वर्ग उतर आता है.. "

प्रेमचद ने फिर ठहाके लगाये तो मेरी नीद टूट गयी और अब जो ससार सामने था वह बनारस की पडोस वाली बस्ती 'लमही' नही, पुरानी दिल्ली का कश्मीरीगेट वाला मुहल्ला था।

* * *

मुझे सपने मे अभी उस रात प्रेमचद के ठहाके सुनायी पडे। १९३२ मे, यानी उनतीस वर्ष पहले, काशी मे दो-तीन बार उनसे मिला था। बाते की थी, ठहाके सुने थे।

धनपतराय : नवाबराय

माँ-बाप ने नाम रखा था : धनपत। चाचा लाड़-प्यार में कहा करते थे 'नवाब'।

पिता का नाम था अजायबराय। डाकखाने में मुंशी थे, इसी से लोग उन्हें मुंशी अजायबलाल कहा करते। अलग-अलग जगहों में उनका तबादला होता रहता।

माता का नाम था—आनन्दी। अक्सर बीमार रहतीं। लड़के दो थे। लड़की एक। पिता को दवा-दारू की फुरसत नहीं मिलती थी। वाराणसी से चार मील दूर लमही में शनिवार ३१ जुलाई १८८० को धनपतराय का जन्म हुआ। धनपत सात वर्ष का हुआ कि माँ चल बसी।

माँ के बिछोह ने धनपत के बचपन का सारा रंग सोख लिया।

कुछ वर्ष बाद मुंशी अजायबलाल ने दूसरी शादी की।

अभाव और अभियोग तो थे ही, विमाता का निठुर व्यवहार भी उनमे आ मिला।

नई मा बात-बात पर डाटती थी। उसे धनपत मे बुराइया ही बुराइया दीखती।

"बचपन वह उम्र है जब इन्सान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत पडती है। उस वक्त पौधे को तरी मिल जाय, तो जिन्दगी भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खुराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी मा का उसी जमाने मे देहांत हुआ और तब से मेरी रूह को खुराक नही मिली। वही भूख मेरी जिंदगी है।" ये शब्द हैं अमरकान्त के। उपन्यास 'कर्मभूमि' मे अमरकान्त के द्वारा प्रेमचन्द मानो खुद अपनी व्यथा सुना रहे हैं। "मुझे जहा मुहब्बत का एक रेजा भी मिलेगा, मै बे-अख्तियार उसी की तरफ जाऊगा। कुदरत का अटल कानून मुझे उस तरफ ले जाता है। इसके लिए अगर मुझे कोई 'खतावार' कहे तो कहे। मै इसे अपनी खता तसलीम नही करता। दुनिया मे सबसे बदनसीब वह है जिसकी मा बचपन मे मर गयी हो।"

और यही कारण था कि बालक धनपत घर-आगन से भागकर बाहर के खुले मैदान मे, अमराई

में, खेतों की तरफ निकल जाता था। साथियों के साथ गिल्ली-डंडा खेलता था। पेड़ों पर चढ़ता था। आम की केरियां चुनता था। मटर की फलियां तोड़ता था.. हवाई किले बनाता था।



"हाय बचपन!
तेरी याद नहीं भूलती
वह कच्चा-टूटा घर
वह पुआल का बिछौना
वह नंगे बदन नंगे पांव खेतों
  में घूमना,
आम के पेड़ों पर चढ़ना
फिर रही हैं सारी बातें आंखों के सामने."

यह नई कविता है?

नहीं।

यह नई कविता नहीं है। प्रेमचंद की ही एक गल्प —'चोरी' की ये पंक्तियां हैं जिनमें प्रेमचंद ने बचपन की मस्ती को याद किया है।

धनपत के बचपन का चित्र अधूरा रह जायगा अगर कजाकी को हम उसमें हटा देंगे..

"कजाकी डाक का हरकारा था।

जाति का पासी था।

बडा ही साहसी, बडा ही जिदादिल, बडा ही हसमुख।

रोजाना डाक का थैला लेकर आता..."

और सुनोगे? अच्छा सुनो:

"जब वह दौडता तो उसकी बल्लमी झुझुनी बजती...

उसे देखते ही मै खुशी मे पागल हो उठता, दौड पडता और एक क्षण मे कजाकी का कंधा मेरा सिहासन बन जाता। जब कजाकी मुझे कधे पर लिये हुए दौडने लगता तब तो ऐसा महसूस होता मानो मै हवा के घोड़े पर उडा जा रहा हूँ ."

घर की गरीबी, घुटन और रूखेपन से त्राण पाने के लिए बालक धनपत ने इस तरह एक सहज रास्ता निकाल लिया था। रोने-झीखने वाली परिस्थितियो पर यही से कहकहे हावी होने लगे।

प्रेमचद ने बचपन से ही मुसीबतो पर हसना सीखा था।

शिक्षा का श्रीगणेश

नवाब के बाल जीवन की आपबीती प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में बिखरी पड़ी है।

‘शुद्ध मन’ बनने की अपेक्षा गुल्ली [illegible] में घूमना, अमरूद तोड़ना, गालियाँ खाना और बुजुर्गों पर [illegible] सुनना नवाब को ज्यादा पसन्द था।

“मेरी उम्र आठ साल की थी।

अपने चचेरे भाई हलधर के साथ मैं पास के गाँव में एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था।

हम दोनों सबेरे बासी रोटियाँ खा लेते, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे।

फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहाँ कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं, और न गैर-हाजिरी का जुर्माना ही देना पड़ता था। फिर डर किस बात का।

कभी-कभी तो थाने के सामने खडे सिपाहियो की कवायद देखते, कभी भालू या बन्दर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने मे दिन काट देते। कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाडियो की बहार देखते। गाडियो के समय का जितना ज्ञान हमे था, उतना शायद टाईमटेबुल को भी न था।

कभी-कभी हम हफ्तो गैरहाजिर रहते, पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढ़ी त्योरिया उतर जाती . "

एक बार अपने घर से चाचा का एक रुपया उडा लिया और दरिया के किनारे बैठकर मिठाई और फल खाये। बाद मे चोरी पकडी गयी और हलधर (चचेरा भाई) खूब पिटा।

पिता का तबादला गोरखपुर हुआ। बच्चे भी साथ गये।

गाव के मदर्से से शहर का स्कूल अच्छा था। धनपत की तबीयत पढने मे लग गयी।

गिल्ली-डडा का खेल पीछे छूट गया। शहरी नजारे आगे सरक आये।

किताबे चाटने का चस्का इसी उम्र मे लगा।

हजारो कहानिया और सैकडो छोटे-मोटे उपन्यास धनपत ने इसी उम्र मे पढ डाले। यह सारा साहित्य उर्दू का था।

तम्बाकू-फरोश का एक लडका धनपत का स्कूल का साथी था। उसके पास थी एक किताब 'तिलस्मे-होशरुबा'। बस, शाम को रोज उस लडके के घर 'तिलस्मे होशरुबा' का पारायण चलता। बूढे-बच्चे-जवान सभी ध्यान मे उसे सुना करते।

दो-दो हजार पृष्ठो वाले १७ भाग। 'तिलिस्मे-होशरुबा' की साइज भी बडी थी—रायल आकार की। ये विराट् पोथे नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, के छपे थे और बेहद लोकप्रिय थे। कहते है, मौलाना फैजी ने अकबर के मनोरजन के लिए इन्हे फारसी मे तैयार किया था।

धनपत ने गोरखपुर रहते-रहते 'तिलस्मे-होशरुबा' के ५-७ भाग खतम कर लिये थे। हमारा कहानीकार शायद पैदा हो चुका था। रात को अकेले मे ढिबरी की मद्धिम रोशनी के सामने उसने गल्प-रचना शुरू कर दी थी। बीसियों पन्ने यो ही लिख जाना और फिर उन्हे फाड डालना...यह सब कितना अच्छा लगता होगा धनपत को।

उन्ही दिनो पिता ने शादी करवा दी। निश्चय ही, इसमे सौतेली मा की भी राय रही होगी। जो लडकी धनपत के लिए चुनी गयी थी वह धनपत को कभी पसद नही आई।

पुत्र के पांवो मे 'अष्टधात की बेडिया' डालकर मुशी अजायबलाल ने हमेशा के लिए आखें मूद ली। परिवार पर मुसीबतो का पहाड टूट पडा।

अपनी इन दिनो की दशा का वर्णन प्रेमचद ने "जीवन-सार" मे किया है :

"पाव मे जूते न थे, देह पर साबुत कपड़े न थे। महगी अलग थी। रुपये मे २० सेर के जौ थे। स्कूल से साढे तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वीन्स् कालेज मे पढता था। हेड-मास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मै बांस-फाटक, एक लडके को पढाने जाता था। जाडो के दिन थे। चार बजे पहुचता था। पढाकर छ बजे छुट्टी पाता। वहां से मेरा घर देहात मे पांच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुच पाता। प्रात काल आठ ही बजे फिर घर से चलना पडता था, कभी वक्त पर स्कूल न पहुचता। रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाधे रहता।"

गरीबी। पिता की मृत्यु। खर्चे मे बढती। असामान्य परिश्रम। कुप्पी के सामने बैठकर रात को पढाई...

गरीबी की मार

जैसे-तैसे सेकेन्ड डिविजन मे मैट्रिक पास किया।

गणित से बेहद घबराते थे। इटरमीडियट मे दो बार फेल हुए। निराश होकर परीक्षा का विचार ही छोड दिया। आगे चलकर, दस-बारह वर्ष बाद, जब गणित के विकल्प मे दूसरा विषय लेना सभव हो गया तभी धनपतराय ने यह परीक्षा पास की।

गरीबी मे लडना और पढाई को आगे बढाना—दोनो काम ऐसे थे कि गाव छोडकर बार-बार शहर आकर रहना पडता था।

एक वकील के लडको को पढाने लगे—५ रुपये माहवार पर। ढाई रुपये अपने पास रखते, ढाई घर वालो को दे आते थे।

वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी मे रहने की अनुमति मिली। टाट का टुकडा बिछा दिया। घर मे दो-एक बर्तन ले आये। एक वक्त खिचडी पक जाती। खा-पीकर बर्तन

मांज-धोकर पुस्तकालय चले जाते। गणित तो बहाना था, पढते थे उपन्यास। उर्दू की साप्ताहिक-मासिक पत्रिकाए भी बुरी नही लगती थी। गल्प-उपन्यास तो धनपतराय के लिए चाट-मिठाई थे।

पैसे की तगी थी ही। बीच-बीच मे उधार लेना पडता। एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपडे लिये थे। महीनो गुजर गये। पैसा न चुका पाये तो उस रास्ते से निकलना ही छोड दिया। तीन वर्ष बाद उसके रुपये दे सके।

इसी तरह किसी बेलदार से आठ आने लिये। यह रकम पाच वर्ष बाद उसने गाव पहुचकर वसूल की।

पहली नौकरी कैसे मिली ?

प्रेमचद के मुह से ही सुनो

"जाडो के दिन थे।

पास एक कौडी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का खाकर काटे थे। महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था। सकोचवश मै उससे माग न सका था।

चिराग जल चुके थे।

मै एक बुकसेलर की दूकान पर पुरानी किताब बेचने गया।

चक्रवर्ती-गणित-कुंजी दो साल हुए खरीदी थी। अब तक बड़े जतन से उसे रखे हुए था, पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी। लेकिन एक रुपये पर सौदा ठीक हुआ।

मैं रुपया लेकर दूकान से उतरा ही था कि बड़ी-बड़ी मूछोंवाले एक सौम्य पुरुष ने मुझ से पूछा

'कहा पढ़ते हो ?'

'कहीं नाम लिखवाना है..'

'मैट्रिक पास हो ?'

'जी. '

'नौकरी तो नहीं करनी है ?'

'कहा ! नौकरी मिले भी तो '

यह सज्जन एक छोटे स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरूरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। यह १८९९ की बात है।"

कहा पाच रुपये, कहा अठारह रुपये !

इन अठारह में से दस परिवार को देने लगे।

गणित ने आगे की पढ़ाई का रास्ता रोक रखा

था। तीन साल बाद प्रगति की एक और सूरत निकल आई।

प्राइमरी स्कूल के अध्यापको को दो-तीन वर्ष बाद सरकारी तौर पर ट्रेनिंग दी जाती थी। धनपतराय भी १९०२ मे ट्रेनिंग कालेज, इलाहबाद, मे भर्ती हो गये। उन दिनो उत्तर प्रदेश मे एक ही ट्रेनिंग कालेज था। १९०५ मे धनपतराय जूनियर क्लास के शिक्षक की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास करके "जूनियर क्लास टीचर" की सनद लेकर निकले।

अंग्रेज प्रिंसिपल कैम्पलस्टर धनपत को खूब मानते थे: उन्हे मॉडेल स्कूल का हेडमास्टर नियुक्त कर दिया।

१९०९ मे बी ए भी कर लिया। विषय लिए थे अंग्रेजी, फारसी, इतिहास।

वह एम ए भी करना चाहते थे, कानून भी पढना चाहते थे। लेकिन परीक्षाओ की तरफ से उदास हो गये थे। जब उमग थी, तब गणित ने बाधा पहुचायी। अब जब वह बाधा दूर हुई, तो जीवन का लक्ष्य ही बदल चुका था।

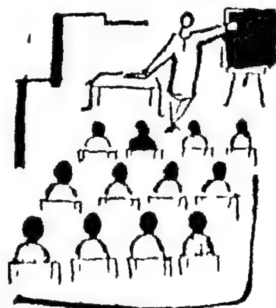
स्कूल-मास्टर का उनका जीवन भारी घुटन और बेबसी का जीवन रहा।

तो क्या प्रेमचन्द की कहानियो में कही इन दिनो की दशा का उल्लेख है ?

प्रेमचन्द की बहुत-सी कहानियो मे प्राइमरी स्कूलो और उनमे पढाने वाले मास्टरो के घुटन-भरे जीवन के चित्र भरे पडे है।

तुम्हे एक छोटा-सा उदाहरण दे दू। उनकी कहानी 'बोझ' उठा लो। पढो, पडित चन्द्रधर क्या कहते है ?

"मुदर्रिसी तो कर ली थी किन्तु सदा पछताया करते थे कि कहा मे इस जजाल मे आ फसे। यदि किसी अन्य विभाग मे नौकर होते तो अब तक हाथ मे चार पैसे होते, आराम से जीवन व्यतीत होता। यहा तो महीने भर प्रतीक्षा करने के पीछे कही पन्द्रह रुपये देखने को मिलते है। वह भी इधर आये, उधर गये। न खाने का सुख, न पहनने का आराम। हमसे मजूर ही भले।"



यह पडित चन्द्रधर बोल रहे है कि खुद मुशी धनपतराय ?

चलो, इसका निर्णय हम तुम पर छोडते है।

शादी : पहली और दूसरी

"फिर विदाई का वक्त आया। कई रोज का अरसा हो गया था।

ऊट-गाडी से आना पडा।

जब हम ऊट-गाडी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकडकर चलना शुरू किया।

मै इसके लिए तैयार न था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उमर मे वह मुझसे ज्यादा थी।

मैने उनकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया "

पढ कर तुम्हे हसी आई होगी। लेकिन बात सच है। दरअसल यह शादी चाची (विमाता) और चाची के पिता की राय से रचाई गयी थी।

लडकी उम्र मे तो बडी थी ही, ढीठ और नासमझ भी थी। पति से भी लडती थी और पति की सौतेली मा से भी।

धनपतराय चार पैसे कमाने लगे तो वह बार-

बार इसीलिए रूठ जाती कि सब-कुछ उसी के हाथों पर क्यों नहीं रखा जाता। उसका मन-मुटाव एक ओर सौतेली सास से था, तो दूसरी ओर अपने पति से।

मुंशी अजायबलाल ने अपनी इहलीला समाप्त कर ली थी। पुत्र के गले में शादी का फंदा डालकर निश्चिन्त हुए और स्वर्ग की राह ली।

दस-बारह वर्ष तक, यानी १९०५ तक, धनपतराय ने पहली बीवी का साथ जैसे-तैसे निभाया, बाद को...

बाद को क्या ?

यही कि अपनी पसन्द के मुताबिक दूसरी शादी कर ली।

इस बार शिवरानी देवी नाम की एक बाल-विधवा से शादी करके धनपतराय ने समाज के सामने भारी साहस और आत्मबल का परिचय किया।

१९०५ का जमाना था। राष्ट्रीयता की लहरें जोर-जोर से हिलोरें ले रही थीं। समाज की मैली पर्तों में कम्पन प्रवेश कर चुका था। 'प्रेमचन्द' का अवतार हो चुका था। वह चढ़ती जवानी वाले एक हसमुख और खूबसूरत मर्द थे। अखबार में 'एक विधवा लड़की के लिए दूल्हे की जरूरत' छपी थी। लड़की

के पिता को धनपतराय ने खुद पत्र लिखा। कुछ ही दिनो मे बात पक्की हो गयी।

चाहते तो हजार-दो-हजार रुपये जरूर मिल जाते। लेकिन दहेज के तौर पर धनपतराय ने शिवरानी के पिता से एक पाई न ली।

घर के लोग इस रिश्ते के खिलाफ थे। ऐसा नही था कि वे दूसरी बहू न चाहते हो। पचीस साल का कमासुद लडका। अपनी कलम के बूते पर नाम हासिल कर चुका था.. वह अगर घर मे दूसरी बीवी लाता है तो अच्छी-खासी रकम भी साथ आनी चाहिए —यही इच्छा थी चाची की और दूसरो की।

जिला फतहपुर के सलीमपुर (कवारा) गांव मे शिवरानी श्रीवास्तव के साथ मुशी धनपतराय की दूसरी शादी हुई। अखबार वालो ने उन्हे बधाइया दी।

मगर इससे क्या!

पहली बीवी जब तक जीवित रही, मासिक भत्ता उन्हे मिलता रहा। शिवरानी जी अन्त तक प्रेमचद पर दबाव डालती रही कि जाकर उन्हे ले आओ और सभी मिल-जुलकर साथ रहे।

पहली पत्नी को लेकर अक्सर प्रेमचद मे और शिवरानी मे कहा-सुनी हो जाती

"जाओ, तुमने उस बेचारी का जीवन मिट्टी में मिला दिया !"—शिवरानी जी कहती।

प्रेमचंद कहते—"तो इसमें मेरा क्या कसूर ! शादी तो घर वालों ने करवाई थी। . "

जिस वर्ष इनकी शादी हुई, उसी वर्ष मुंशी धनपतराय 'सब-डिप्टीइन्स्पेक्टर' हो गये। कानपुर हेडक्वार्टर था।

लमही वाले परिवार में चाची के चलते अब भी वही गिचगिच लगी रहती। शिवरानी देवी साल में दो महीने लमही, दस महीने सलोमपुर रहती।



कलम : एक और साथिन

धनपतराय पढाकू तो थे ही, कलम भी चलने लगी। मैंट्रिक पास करने से पहले ही उनको लिखने का चस्का लग गया था।

पढाई और ट्यूशन आदि से जो वक्त बचता वह सारा का सारा किस्से-कहानिया पढने मे लगाते।

किताबी कहानियो का जो भी असर दिमाग पर पडता उसे अपनी सहज कल्पनाओ मे घोल-घालकर मुशी जी नई कथावस्तु तैयार करने लगे और वह कागज पर उतरने लगी।

सूखे और अभावग्रस्त जीवन को हवाई किले ऊपर उछालते हैं। खयाली पुलाव उसको मजेदार बनाता है। 'तिलस्मे होशरुबा', 'फसान-ए-आजाद', 'चन्द्रकान्ता सन्तति' आदि किताबो का अपना जादूवाला रगीन ससार था। धनपतराय उसी मे मस्त रहते थे।

१९०१-२ मे उनके दो-एक उपन्यास निकले — 'हम खुरमा' और 'हम सवाव' और 'कृष्णा'। कहानियां

१९०३ मे लिखना शुरू की। अंग्रेजी मे रवीन्द्रनाथ के कई गल्प पढे थे। मुंशी जी ने उन गल्पो के उर्दू-रूपातर पत्रिकाओ मे छपवाये।

पहली कहानी थी "ससार का सबसे अनमोल रतन"। १९०७ मे कानपुर के उर्दू मासिक 'जमाना' मे प्रकाशित हुई।

मगर, 'जमाना' मे धनपत की अन्य रचनाओ का प्रकाशन १९०३-४ मे ही शुरू हो गया था। उसके मालिक और सम्पादक थे मुंशी दयानारायण निगम। निगम साहब ने धनपतराय की योग्यता को पहले ही भाप लिया था। शीघ्र ही दोनो का परिचय गाढी मित्रता मे बदल गया।

निगम साहब उनसे आलोचना लिखवाते, अनुवाद करवाते, सक्षेप, टिप्पणिया—बहुत-कुछ लिखवाने लगे। १९०८ के अन्त तक "नवाबराय" 'जमाना' के स्थायी और विशिष्ट लेखक हो चुके थे।

नवाब ?

हा, नवाब। नवाबराय!

यह चाचा का रखा हुआ प्यार का नाम था।

शुरू की रचनाओ के साथ वर्षो तक धनपत का यही नाम चमकता रहा।

१९१०-११ मे 'सोजे वतन' जब्त हुआ तो उसके साथ "नवाबराय" की नवाबी खत्म हो गयी। बाद को 'जमाना' के पाठको का "प्रेमचद" से परिचय हुआ और "नवाबराय" जाने किस पर्दे की ओट छिप गये !

नया नाम "प्रेमचद" हो, यह सुझाव 'जमाना' के सम्पादक का ही था। इस पर धनपतराय ने निगम साहब को लिखा

"प्रेमचन्द अच्छा नाम है, मुझे भी पसन्द है। अफसोस सिर्फ यह है कि पाच-छ. साल मे नवाबराय को ख्याति देने की जो मेहनत की गयी, वह सब अकारथ गयी। यह हजरत किस्मत के हमेशा लड्डूरे रहे और शायद आगे भी रहेगे..."

वात यह थी कि 'सोजे वतन' की जब्ती के बाद अग्रेजी सरकार और उसके पिट्ठुओ की नजर मे "नवावराय" काटे की तरह खटकने लगे थे। कई तरह की पावदिया लग गयी "नवावराय" पर..।

'नवाव राय' ऐसा नाम था जो प्रेमचद को खुद भी वेहद प्यारा था। मा-वाप उन्हे "नवाव" कहकर बुलाते थे और गाव-घर के लोग भी उनको इसी नाम से पुकारते रहे होगे। वाद को स्कूली जीवन मे "धनपत राय" ऊपर आ गये, "नवाव राय" दव-से गये।

लेकिन बीस-इक्कीस की उम्र मे जब पत्रिकाओ मे नाम छपवाने के सुखद अवसर सामने आये तो "नवाब राय" आगे खडा हो गया ।

धनपतराय ने डाटकर उससे कहा—चल हट !

"नही, तेरी क्या जरूरत ? जा, उधर जा !" नवाब बोला ।

धनपत को ताव आ गया । नवाब को धकेलकर उसने पीछे कर दिया, लिखा हुआ कागज हाथ मे लेकर स्वगत बोला—इस पर मेरा नाम जायेगा, जो तुझे और समूचे परिवार को खिलाता-पिलाता है उसी का नाम जायेगा, हां !

नवाब राय की गर्दन लटक गयी, चेहरा फीका पड गया ।

एकाएक धनपत ने कहकहे लगाये । बडे भाई के अन्दाज मे कह गया—ले भई, तेरा ही नाम छपा करेगा ।

सच पूछो तो अन्त तक प्रेमचद को 'नवाब राय" नाम ही प्रिय रहा । उर्दू और हिन्दी के मेल से बना अपना यह नाम उन्हे बडा ही सार्थक लगता था ।

दर्दनाक होली : किताबों की

कलक्टर ने कडककर पूछा—'नवाब राय' तुम्हारा नाम है ?

जी हा !—जवाव मिला।

कलक्टर ने सिर से पैर तक धनपत को देखा। निकट ही एक तरफ 'सोजे वतन' की प्रतियो के ढेर रखे थे।

कहानीकार "नवाब राय" का माथा ठनका। महीनो से खुफिया सिपाही इस कहानी-सग्रह के लेखक की खोज कर रहे थे। किताब कानपुर से छपी थी, लेकिन अदर-बाहर कही कहानीकार का नाम नही था। यह भी पता नही चलता था कि किस प्रेस मे छपी है।

सी आई डी वालो ने प्रेस का पता तो मालूम कर ही लिया, वे लेखक को भी जान गये।

हमीरपुर के कलक्टर के सामने कहानीकार की पेशी हुई

"यह किताब तुम्हारी लिखी है ?"

"जी !"

"इस तरह की कोई और भी किताब छपवाने वाले हो ?"

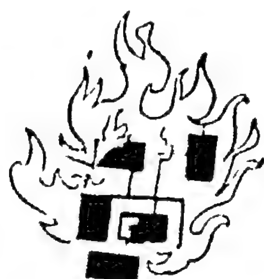
"नहीं हुजूर !"

"झूठ बोलते हो ?"

कहानीकार को चुप देखकर नौकरशाही के उस पुतले की आंखों में शासन-मद का नशा उतर आया। बोला—"खैर मनाओ कि अंग्रेजों की अमलदारी है वर्ना अब तक तुम्हारे हाथ कटवा दिये जाते। जानते हो, बगावत फैलानेवालों को क्या सजा मिलती है ?"

"गोली से उड़ा देते हैं !" सरकारी वकील के बस होंठ हिलकर रह गये। वह अभियुक्त की ओर देख रहा था।

युवक कहानीकार चुपचाप खड़ा था।



साहब ने कहा "इन किताबों में आग लगा दो वर्ना छुटकारा नहीं मिलेगा।"

नवाब की आत्मा भीतर ही भीतर रो पड़ी।

'सोजे वतन' की ६०० प्रतियों का ढेर सामने थी

क्षण सुलग उठा । वह कोई मामूली होली नही थी ।

दिल को कितनी चोट पहुची होगी ।

गोली खाकर मरते वक्त शायद ही इतना कष्ट होता

मगर इसी घटना ने 'प्रेमचद' को "प्रेमचद महान" बना दिया ।

कलक्टर ने कहानीकार को डरा-धमकाकर छोड दिया ।

बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस मामले मे जिले के और-और अधिकारियो से सलाह ली : सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, दो डिप्टी कलक्टरो, एक डिप्टी इस्पेक्टर-स्कूल से ।

डिप्टी कलक्टरो मे एक ने बडा जोर मारा—इन कहानियो मे आदि से अत तक राजद्रोह भरा है । उसने कहानियो मे से पचासो जगहे काट कर रखी थी ।

पुलिस के अधिकारी ने राय दी—आदमी खतरनाक मालूम होता है, इसको सख्त सजा मिलनी चाहिए । यो देखने मे गऊ जैसा सीधा-सादा लगता है लेकिन अदर बारूद भरी है

डिप्टी इस्पेक्टर बोले—"मै जरा उसकी और

टोह ले लू, छिप-छिपकर शायद और कुछ लिखता छपवाता हो ! मुझे आप साहबान कुछ मोहलत दे । मै इस आदमी के बारे मे पूरी तरह पता लगा लू समझाने-बुझाने पर शायद रास्ते पर आ ही जाय . ”

डिप्टी इसपेक्टर प्रेमचन्द को पसद करते थे । इसी से उन्होने यह रुख अपनाया ।

“जान बची, लाखो पाये !”—प्रेमचन्द ने दोस्तो से कहा और कहकहे लगाकर हसने लगे ।

हर नुकसान, और हर नफे के बाद प्रेमचन्द ठहाके लगाते थे । सधे हुए खिलाडी की तरह उन्होने अपने को हर परिस्थिति के लिए तैयार कर लिया था ।

लिखना छोड नही दिया है—यह बतलाने के लिए प्रेमचन्द को ‘नवाब राय’ के नाम से इधर-उधर अखबारो मे अर्से तक लिखना पडा । मगर ‘जमाना’ मे आगे ‘प्रेमचन्द’ की कहानिया जोरो से छपने लगी । १९१३-१८ मे ‘सेवासदन’ (बाजारे हुस्न) छपा तो ‘प्रेमचन्द’ का नाम घर-घर मे फैल गया ।

धीरे-धीरे प्रेमचन्द ने हिन्दी भी सीख ली । उन्होने अब हिन्दी मे भी लिखना शुरू कर दिया ।

चाकरी : स्वाभिमान

इलाहाबाद, कानपुर, हमीरपुर, महोबा, बस्ती, गोरखपुर...

लगातार बीस वर्षों तक प्रेमचंद इन जगहों मे सरकारी नौकरी के सिलसिले मे रहे। स्वास्थ्य बीच-बीच मे बिगड जाता था। परिवार वाले हमेशा गर्दन पर सवार रहते थे। साहित्य-निर्माण की धुन चैन नही लेने देती थी। आमदनी मामूली थी। उसमे से भी अपने पर बहुत कम खर्च करते थे।

हद दर्जे की ईमानदारी और अपनी ड्यूटी को अच्छी तरह निभाने की मुस्तैदी.. खुद तकलीफ झेलकर दूसरो को सुख पहुचाने की लगन.. सौ-सौ बधनो मे जकडी हुई भारत माता की स्वाधीनता के लिए आतुरता बाहरी और भीतरी बुराइयो की तरफ से लोगो को आगाह रखने का सकल्प हर तरह के शोषण का विरोध . अपनी इन खूबियो के चलते प्रेमचद खूद लोकप्रिय हो उठे।

सरकारी नौकरी एक ओर दूसरी ओर एक सज्जन युवक का स्वाभिमान। हमेशा वह संघर्ष के बीच में से गुजरे।

एक किस्सा सुनो

जाड़े के दिन थे।

स्कूल का इंस्पेक्टर मुआयना करने आया था।

पहले रोज इंस्पेक्टर के साथ रहकर प्रेमचंद ने स्कूल दिखा दिया, दूसरे रोज लड़कों को गेंद खेलाना था।

उस दिन आप नहीं गये।

क्लास से फुर्सत मिली तो घर चले आये।. .

आराम कुर्सी पर लेटे दरवाजे पर अखबार देख रहे थे।

सामने ही से इंस्पेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था।

वह आशा कर रहा था कि धनपतराय उठकर सलाम करेंगे।

लेकिन आप उठे भी नहीं, न उधर देखा ही।

इस पर, कुछ दूर जाने के बाद, इंस्पेक्टर ने गाड़ी रोक दी और अर्दली को इनके पास भेजा।

अर्दली जब आया तो आप गये।

"कहिए, क्या है ?"

"तुम बडे मगरूर हो ! तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है। उठकर सलाम भी नही करते ?"

"मै जब स्कूल मे रहता हू, तब नौकर हू। बाद मे मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ।"

अपना-सा मुह लिए इस्पेक्टर चला गया ..

एक और किस्सा सुनो

कालाकाकर के राजा आये मिलने।

जब वह चले गये तो अन्दर से शिवरानी जी निकल आई। पूछा — "आगतुक महाशय कौन थे ?"

"राजा साहब थे, कालाकाकर के।"

"आपने उन्हे बैठाया कहा ?"

"जहा मै खुद बैठा था।"

"यह तो ठीक नही।" शिवरानी देवी ने कहा। "मैने बीसो बार आपसे कहा है कि दो-चार कुर्सिया लाकर रख ले। इन लोगो ने क्या सोचा होगा ? आपको यह सब कैसे अच्छा लगता है ?'

प्रेमचद कहकहे लगाकर हस पडे। बोले — "तो फिर मै राजा लोगो के लिए थोडे ही इन्तजाम करता हूँ। मै तो मजदूर हूँ। जो मोटा-झोटा खाने-पहनने को

लिखा, खाना-पहनना। मेरी गरीबी ही जमीन है। अगर उन लोगों को अच्छा न लगे तो इसके लिए मैं क्या करूँ ?"

दिखावा उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं था। कुर्ता और धोती। १९२० के बाद गांधी टोपी अपना ली थी।

पत्नी जब से साथ रहने लगी तब से लिखाई का सिलसिला जम गया। १९०५ से १९२० के दरम्यान प्रेमचन्द ने बहुत-कुछ लिखा। दसियों छोटे-बड़े उपन्यास, सैकड़ों कहानियाँ। पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध और आलोचनाएँ भी कम नहीं लिखीं।

मास्टरी के दिनों में भी लिखते रहे।

स्कूलों के सब-डिप्टी-इंस्पेक्टर थे, अक्सर दौरे पर रहना होता था। फिर भी रोज कुछ न कुछ लिखा करते थे।

बीमारी के दिनों में भी लिख-लिखकर दिया करते थे। पत्नी और बच्चों की नजरें बचाकर दिन में, और रात में चारपाई पर बैठे-बैठे ही।

प्रेमचन्द के लिए लिखना ही सबसे प्यारा काम था। कभी किसी वजह से उनकी लिखाई छूट जाती तो यह उनके लिए भारी सजा थी।

१९२० में सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। 'गोदान' बोलते वक्त प्रेमचन्द आगे को जानकारी

अनुभव करते थे। 'सेवासदन' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जा चुका था। कहानियो के कई सकलन प्रकाशित हो चुके थे और सराहना प्राप्त कर चुके थे। सम्पादक लेख और कहानी के लिए प्रेमचद को २० रु से ज्यादा देने लगे थे। उन्हे अपने आप पर भरोसा हो चुका था।

अहदी और कामचोर हो, फिर कैसा भी प्रतिभाशाली साहित्यकार हो, वह परिस्थितियो से पिटते-पिटते टूट जायेगा। प्रतिभा और परिश्रम दोनो ने मिलकर प्रेमचद का निर्माण किया।



लिखना : नित्य का नियम

लमही (बनारस) आकर जम गये।

सुबह उठते, दैनिक क्रिया से निबट कर नाश्ता करते। फिर अपने रोज के काम पर लग जाते।

फिर बारह बजे उठकर नहाते-खाते।

फिर घटा भर आराम करते।

फिर उसी तपते हुए मकान के अदर दो बजे से लिखने-पढ़ने मे लग जाते।

फिर शाम का नाश्ता करके बच्चो को पास बुला लेते और दरवाजे पर बैठकर गाव वालो से बाते करते रहते।

कुल मिलाकर रोज आठ-दस घटे प्रेमचद की कलम चलती थी।

उपन्यास एक-न-एक चलता ही रहता। बीच-बीच मे कहानिया जरूर लिखते। 'जमाना' (मासिक) और 'आजाद' (साप्ताहिक) तो खैर अपनी औलाद ही मानते थे। मुशी दयानारायण निगम (कानपुर) की

इन दोनो पत्रिकाओ मे प्रेमचद की रूह बसती थी। आलोचना, अनुवाद, सक्षेप-साराश, टिप्पणिया.. प्रेमचद इन पत्रो के लिए क्या नही लिखते थे ?

'जमाना' की आर्थिक हालत कभी अच्छी नही रही। मुशी दयानारायण उम्र मे छोटे थे, फिर भी प्रेमचद उन्हे अपना बडा भाई मानते रहे। दोनो मे इतना अधिक अपनापन था, जितना सगे भाइयो मे भी नही होता।

मुशी जी प्रेमचद के दोस्त भी थे, अभिभावक भी। मददगार भी थे, सहोदर भी। ३६-३७ वर्षो तक दोनो मे घनिष्टता रही। लगता नही था कि दो अलग परिवार है।

प्रेमचद अत तक 'जमाना' मे लिखते रहे।

१९२८ के बाद ज्यादातर वह हिन्दी में ही लिखने लगे। 'माधुरी' (लखनऊ) का सम्पादक होने पर उनकी प्रतिभा और योग्यता का एक-एक बूद हिन्दी-ससार को मिलने लगा। 'जमाना' को फिर भी प्रेमचद की मौलिक उर्दू रचनाए लगातार मिलती रही। मुशी दयानारायण निगम का प्रेम-पाश कभी ढीला नही पडा। जब चाहा, प्रेमचद ने उनकी फर्मायश पूरी की।

१९३० मे 'हस' (मासिक) निकला। १९३२ मे

'जागरण' (पहले पाक्षिक, फिर साप्ताहिक) भी प्रेमचन्द का अपना अखबार हो गया।

१९२१-२२ में आप मासिक 'मर्यादा' (काशी) का सम्पादन भली-भांति कर चुके थे।

पत्र-पत्रिकाएं सम्पादित करने की दीक्षा दरअसल प्रेमचन्द को कानपुर में ही मिल चुकी थी। १९०५ से 'जमाना' और 'आजाद' के कालम उनकी कलम के लिए 'खेल का मैदान' बन चुके थे। तीन-चार वर्ष कानपुर रहे। मुंशी दयानारायण निगम ने धनपतराय के अन्दर 'महान् साहित्यकार' और 'युगनिर्माता प्रेमचन्द' को शायद तभी पहचान लिया था।

टीम-टाम नहीं, तड़क-भड़क नहीं, यूनिवर्सिटी की डिग्री भी नहीं... देहात का एक मामूली नौजवान, सरकारी स्कूल का असिस्टेन्ट-टीचर... उर्दू में दो एक किताबें छप चुकी थीं। कल्पना और आदर्श के रंग घोलकर छोटी-बड़ी कहानियां लिखने लगा था... कलम फुर्ती से चलती थी...

मुंशी दयानारायण निगम को अपनी पत्रिका के लिए ऐसे नौजवान लेखकों की तलाश थी जो धुन के पक्के हों, देशभक्त हों, तेज-तर्रार हों और अपने को तीसमारखां न समझते हों। प्रेमचन्द उनकी कसौटी पर

खरे उतरे और दोनो की दोस्ती दिन-प्रति-दिन गाढी होती गयी।

बी ए. की डिग्री १९१९ मे मिली। तब तक प्रेमचद का नाम खूब फैल चुका था। यो अब डिग्री की कोई आवश्यकता नही थी, मगर इसके लिए ललक तो थी ही उनके अदर।

एम ए. करके प्रोफेसर बनने की, एल-एल. बी. करके वकालत करने की लालसा स्कूल के दिनो से ही चली आ रही थी। लेकिन बाद को यह सब करने का मौका ही हाथ नही आया।

१९२० मे सरकारी सर्विस से त्यागपत्र दिया और गाव आकर जम गये। कलम चलाकर ४० या ५० रु की फुटकर मासिक आमदनी होने लगी। बडे सतोष और धीरज से वे दिन प्रेमचद ने गुजारे।

चर्खे और करघे बनवाकर प्रेमचद ने एक नया धधा चलाना चाहा। इसमे गोरखपुर के श्री महावीर प्रसाद पोद्दार का और प्रेमचद का साझा था। वह धधा चला नही। दयानाराण निगम को यह पसद नही था। साहित्यकार चाहे जो भी धधा नही अपना सकता, यह उसके लिए काफी महगा पडेगा. निगम जी ने प्रेमचद को लिखा।

१९२० में काशी के नामी देशभक्त बाबू शिव-प्रसाद गुप्त ने १५० रु मासिक पर प्रेमचन्द को 'मर्यादा' (मासिक) का सम्पादक बना लिया। बाबू सम्पूर्णानन्द असहयोग आन्दोलन में गिरफ्तार होकर जेल पहुंच गये थे। 'मर्यादा' को संभालने के लिए किसी सुयोग्य सम्पादक की आवश्यकता थी।

१९२२ में सम्पूर्णानन्द जी जेल से छूटे तो उन्हें 'मर्यादा' का काम वापस मिला।

लेकिन बाबू शिवप्रसाद गुप्त प्रेमचन्द को छोड़ना नहीं चाहते थे। काशी विद्यापीठ में उन्हें स्कूल-विभाग का हेडमास्टर नियुक्त कर दिया।

डेढ़-दो वर्ष प्रेमचन्द काशी विद्यापीठ में रहे होंगे। आगे चलकर उन्हें महसूस हुआ कि विद्यापीठ को पैसे की तंगी है। ऐसी स्थिति में वहां बने रहना प्रेमचन्द को ठीक नहीं जंचा। दूसरी बात यह भी थी कि प्रेमचन्द स्वाधीनता-संग्राम में कभी जेल नहीं गये थे। विद्यापीठ जैसी राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं में जेल-यात्रा किसी शिक्षक के लिए साधारण योग्यता नहीं, विशेष योग्यता समझी जाती थी।

१९२३ में 'सरस्वती प्रेस' चालू हुआ।

किताबें छापनेवाला यह छोटा कारखाना लोग

साझेदारो की पूजी से खोला गया। एक साझेदार थे मशहूर शायर रघुपति सहाय 'फिराक', दूसरा साझा था खुद प्रेमचद का, तीसरा एक रिश्तेदार का।

प्रेमचद की आजाद तबीयत को नौकरी भाती नही थी। स्वाधीन रहकर लिखने-पढने का धधा चलाये जाना चाहते थे। प्रेस खोलते वक्त उनके दिमाग मे यही एक बात थी कि अपनी किताबे आप ही छापते रहेगे, प्रकाशन का झमेला किसी भी साहित्यकार के लिए इस देश मे सबसे बडा झमेला है।

किताबे उर्दू-हिन्दी दोनो की कुल मिलाकर पचीस से ऊपर हो गयी थी। उनमे से कुछ लाहौर से छपी थी, कुछ कलकत्ते से, कुछ लखनऊ से, कुछ कानपुर से, कुछ बनारस से कुछ कही से छपी थी, तो कुछ कही से। ढेर-सारी किताबे इधर-उधर अनाथ पडी थी। प्रकाशन की बद-इन्तजामी से कितनी ही पुस्तके गोदामो मे कूडा हो रही थी। बुक्सेलरो मे से जो काइया और चतुर थे, उन्होने प्रेमचद को काफी ठगा। प्रकाशक उनके उपन्यासो पर लट्टू थे, किन्तु 'सेवासदन' जैसे उपन्यास के लिए ४०० रु से ज्यादा एक छदाम भी नही निकालते थे। ३००० रु एक मुश्त प्रेमचद को बहुत बाद मे मिले जब 'प्रेमाश्रम' आदि दसियो किताबो की मिल्कियत को लेकर झगडा

उठा !.. मगर प्रेमचन्द अपने प्रेस को कभी तक नहीं चला सके, किताबों का प्रकाशन करके कागज और छपाई-बंधाई का ही खर्चा न निकलता हो तो साहित्यकार खून नहीं तो क्या करेगा ?

१९३० तक प्रेस की हालत खराब रही। प्रेमचन्द का [illegible] घसीट-घसीट कर किसी तरह चलता रहा। इसमें जो कुछ [illegible] थी उसे 'हंस' और 'जागरण' ने पूरा कर दिया। घाटा, घाटा, घाटा! और घाटा! कर्ज, कर्ज, कर्ज! और...!

१९२८ के बाद अपनी किताबें अपने प्रेस में छापने लग गये थे। प्रेमचन्द के कारण 'सरस्वती प्रेस' का नाम [illegible] में फैल गया था, लेकिन आर्थिक बुनियाद [illegible] कमजोर बनी रही।

१९३१ में आर्थिक भार से प्रेमचन्द को गंगा पुस्तकमाला (लखनऊ) की नौकरी स्वीकार करनी पड़ी, सिर्फ १०० रु० माहवार पर। उन्हीं दिनों 'रंगभूमि' का कापीराइट बेचना पड़ा था।

बार-बार निश्चय करते थे कि अब नौकरी नहीं करेंगे, अपनी किताबों से गुजारे लायक रकम निकल ही आयेगी। बार-बार अपने प्रेस में बैठते थे, बार-बार पुराना [illegible] किसी न किसी के पुर्जों में

तेल डालते थे...काम बढता था, परेशानिया बढती थी, बुढापा भी उसी रफ्तार से आगे बढता आता था।

पेट की बीमारिया हमेशा प्रेमचद के पीछे पडी रही। लेकिन चिन्ता का रोग उनका सबसे बडा रोग था। परिवार बडा था, आमदनी कम थी। थोडी-बहुत कटौती करके शिवरानी जी जो भी कुछ बचाती, आप उसे भी प्रेस के पेट मे डाल आते!

बनिया थे नही, प्रेसवाले धधे मे अक्सर टोटा पड जाता। मुरौअत के मारे प्रेमचद तकाजा नही कर पाते थे। वसूली न हो पाती और देना चढता जाता...

इसी सिलसिले मे एक किस्सा सुनो

फरवरी १९३३...

प्रेस मे हडताल हो गयी थी।

प्रेमचद प्रेस से घर आये और सुस्त-से बैठ रहे।

उन्हे उदास देखकर पत्नी ने पूछा

"आपकी तबीयत कैसी है?"

"तबीयत तो बहुत अच्छी है।"

"तो उदास क्यो है?"

"इस प्रेस के कारण मुझे बडी परेशानी रहती है।"

"क्या है, बताओ न?"

"क्या बतलाऊं! मैनेजर और मजदूरों में पटती ही नहीं।"

"वे काम ठीक से न करते होंगे। मैनेजर बेचारा क्या करे?" पत्नी ने कहा।

"भाई, मैनेजर भी तो अपने को खुदा से कम नहीं समझता।" उत्तर मिला।

"खुदा क्यों समझेगा अपने को? अगर ठीक-ठीक काम न करोगे तो आप भी उस पर बिगड़ेंगे।"

"जरा-सी बात पर लोगों को गैरहाजिर करता है, पैसे काटता है।"

"तो फिर उसका क्या दोष?"

"नहीं, मैनेजर की सब शरारत है। कभी घंटी सुस्त कर देता है, कभी तेज कर देता है। मैंने एकान्त में भी बीसों बार समझा दिया है कि बाबा, ऐसा मत किया कर पर माने तब न। फिर ऊपर से तरह-तरह के चार्ज हैं। क्या इन्हीं मजदूरों के बल पर चार्ज पूरे होंगे? हम लोगों को तो ज्यादा रुपये मिलते हैं, पर खर्चे भर को पूरा नहीं पड़ता। तब उन गरीबों का कैसे पूरा पड़ेगा? पैसों की मुसीबत तो उन लोगों के सिर पर है। इन लोगों (मैनेजरों) की तनख्वाह तब नहीं कटती, जब ये लोग इतने गायब रहते हैं, फिर क्या

मजदूरो की ही तनख्वाह चार मिनट देर से आये तो कट जाय ? जरा भी गलती हुई कि चट निकाल कर दूसरे को बुला लिया। हमारे यहा पढा-लिखा समाज सबसे ज्यादा खुदगर्ज हो गया है।"

"एक के पीछे सारे समाज को बदनाम कर रहे है ?" पत्नी ने प्रश्न किया।

"मेरा कहना तुम सच मानो।"

"तो आप फिर अपने को दोष दीजिए। मैनेजर को क्यों दोषी ठहराते है ?"

"मै तो अपने से छोटो से कभी नही लडता हूँ। हर जगह यही अत्याचार है। अगर मैनेजर अपने से छोटो को बराबर का समझे तो झगडा-हडताल कभी कुछ न हो। हडताल तो हो इनकी हरकतो से, बदनामी और हार हो मेरी ! अब जब तक हडताल खतम न होगी, तब तक सारा काम रुका रहेगा। तबीयत उधर लगी रहती है, काम क्या होगा खाक ?"

"आपकी तरह मैनेजर भी बैठा रहेगा। ये मजदूर भी किसी से कम थोडे ही हे।" पत्नी ने चुटकी ली।

"नही जी, मैनेजर मजदूरो से बढकर है। देखता हू, बराबर नुकसान हो रहा है, पर बोलता नही हू। काम लेने के ढग भी होते है।"

"तो आप खुद ही मैनेजरी क्यो न करे ?"

"मेरे कहने का यह मतलब थोडे ही है कि मैनेजर बैठा रहता है, पर काम ठीक ढग से होना चाहिए।"

"मैने कब कहा कि आप प्रेस खोले ? सब रुपया लगा दिया, पर लाभ नजर नही आता। उस पर भी रात-दिन की खिच-खिच। बाहर की सारी आमदनी भी प्रेस मे लगी जा रही है।"

"मेरे भाग्य की बात तुम थोडे ही मेट सकती हो ? यो तुम एक पाई किसी को देने से रही। प्रेस के बहाने दस-बीस की रोजी चलती है।" प्रेमचद ने कहा।

"खूब ! फिर आप नाहक क्यो झीकते हैं ?"

"झीकता हूँ इसलिए कि प्रेस मे हडताल है, अब मजदूर बेचारे कैसे रहेगे !"

"आपसे क्या मतलब ? वे रह लेंगे।"

"क्यो नही ? अफसोस की बात तो है ही। हड-ताल से उन्ही को थोडे कष्ट होगा। एक-एक के पीछे दस-दस आदमी है। सब भुगतेगे।"

"तो क्या सब का दुख आप अपने सिर मढ लेगे ? अगर ऐसा ही था तो आप उन्हे बुलाकर खुद समझा देते।"

देना होता। पढने-लिखने का सारा काम रात को करते। तदुरुस्ती बीच-बीच में टूट जाती थी। दवा-दारू के लिए शिवरानी जी रुपये देती, तो प्रेमचद उस रकम को भी प्रेस मे खर्च कर डालते। फिर वैद्यो और हकीमो से सस्ती दवाए लेते रहते। आराम बिल्कुल नही करते थे। पूरी नीद सोते नही थे। खाना भी मामूली किस्म का खाते।

१९३० के बाद दशा कुछ बदली जरूर, मगर प्रेमचंद का परिश्रम और भी बढ गया।

उनका जीवन ऐसा दीप था जिसकी लौ मद्धिम नही, तेज प्रकाश देने को मजबूर थी। उस दीप में कभी पूरा-पूरा तेल नही डाला जा सका। लौ हमेशा बत्ती के रेशों को जलाती आयी।

उनकी बेचैनी इसीलिए थी कि जीवन-दीप का प्रकाश दूर-दूर तक फैले, वक्त पर फैले, अच्छी तरह फैले। अपनी सारी किताबें, अपना सारा साहित्य अपने प्रेस मे ही छपवाकर समूचे देश मे फैला देना चाहते थे। किसानो, मजदूरो, युवको, विद्यार्थियो, स्त्रियों और अछूतों की दर्दनाक जिन्दगी को आधार बनाकर जो कोई भी लिखे, सभी कुछ छापकर जनता को सजग-सचेत बना देने का सकल्प प्रेमचद के अदर हिलोरे ले

रहा था। अधिक-से-अधिक लिखते जाना, अधिक से अधिक छापते जाना, अधिक से अधिक लोगो को जागरूक बनाते जाना...शोषण, गुलामी, ढोंग, दंभ, स्वार्थ, रूढि, झूठ, अन्याय, अत्याचार—इन सबकी जड़ें खोद डालना और धरती को नयी मानवता के लायक बनाना—यही प्रेमचद का उद्देश्य था।

१९३४ के बाद प्रेमचद को लगने लगा कि अब वह दो-चार वर्ष से ज्यादा नही जियेगे. इससे उनके अदर दिन-रात लिखने की, दिन-रात काम करने की, भावना जोर पकडती गयी।

१९३२ की बात है। श्री चद्रगुप्त विद्यालकार उनसे मिलने गये थे। चार-छं दिन साथ रहे।

बाद मे 'विशाल-भारत' (कलकत्ता) मे चद्रगुप्त जी का प्रेमचद के बारे मे एक लेख छपा था। बडप्पन और सादगी के सिलसिले मे बहुत-सी बाते लिखने के बाद विद्यालकार जी ने लिखा—"श्रीमती शिवरानी देवी जी से मै अब यह अनुरोध करूगा कि अपने भोजन मे ताजी और कच्ची सब्जियो, फलो तथा दही को विशेष महत्ता दे।'

'हस' के 'प्रेमचद-स्मृति-अक' मे इन पक्तियो पर निगाहे पडी तो लगा कि प्रेमचद ने जान-बूझकर अपना

देना होता। पढ़ने-लिखने का सारा काम रात को करते। तदुरुस्ती बीच-बीच में टूट जाती थी। दवा-दारू के लिए शिवरानी जी रुपये देती, तो प्रेमचद उस रकम को भी प्रेस मे खर्च कर डालते। फिर वैद्यो और हकीमो से सस्ती दवाए लेते रहते। आराम बिल्कुल नही करते थे। पूरी नीद सोते नही थे। खाना भी मामूली किस्म का खाते।

१९३० के बाद दशा कुछ बदली जरूर, मगर प्रेमचद का परिश्रम और भी बढ गया।

उनका जीवन ऐसा दीप था जिसकी लौ मद्धिम नही, तेज प्रकाश देने को मजबूर थी। उस दीप में कभी पूरा-पूरा तेल नही डाला जा सका। लौ हमेशा बत्ती के रेशो को जलाती आयी।

उनकी बेचैनी इसीलिए थी कि जीवन-दीप का प्रकाश दूर-दूर तक फैले, वक्त पर फैले, अच्छी तरह फैले। अपनी सारी किताबे, अपना सारा साहित्य अपने प्रेस मे ही छपवाकर समूचे देश मे फैला देना चाहते थे। किसानो, मजदूरो, युवको, विद्यार्थियों, स्त्रियो और अछूतों की दर्दनाक जिन्दगी को आधार बनाकर जो कोई भी लिखे, सभी कुछ छापकर जनता को सजग-सचेत बना देने का सकल्प प्रेमचद के अदर हिलोरे ले

रहा था। अधिक-से-अधिक लिखते जाना, अधिक से अधिक छापते जाना, अधिक से अधिक लोगो को जागरूक बनाते जाना...शोषण, गुलामी, ढोंग, दभ, स्वार्थ, रूढि, झूठ, अन्याय, अत्याचार—इन सबकी जडे खोद डालना और धरती को नयी मानवता के लायक बनाना—यही प्रेमचद का उद्देश्य था।

१९३४ के बाद प्रेमचद को लगने लगा कि अब वह दो-चार वर्ष से ज्यादा नही जियेगे इससे उनके अदर दिन-रात लिखने की, दिन-रात काम करने की, भावना जोर पकडती गयी।

१९३२ की बात है। श्री चद्रगुप्त विद्यालकार उनसे मिलने गये थे। चार-छः दिन साथ रहे।

बाद मे 'विशाल-भारत' (कलकत्ता) मे चद्रगुप्त जी का प्रेमचद के बारे मे एक लेख छपा था। बडप्पन और सादगी के सिलसिले मे बहुत-सी बाते लिखने के बाद विद्यालकार जी ने लिखा—"श्रीमती शिवरानी देवी जी से मै अब यह अनुरोध करूगा कि अपने भोजन मे ताजी और कच्ची सब्जियो, फलो तथा दही को विशेष महत्ता दे।"

'हस' के 'प्रेमचंद-स्मृति-अक' मे इन पक्तियो पर निगाहे पडी तो लगा कि प्रेमचद ने जान-बूझकर अपना

स्वास्थ्य चौपट कर लिया था। अतिम दिनो मे वह संतरे लेने लगे थे, पथ-परहेज पर भी थोडा-बहुत ध्यान दिया था, लेकिन तब तक तदुरुस्ती बिल्कुल रूठ चुकी थी।

प्रेमचद को धुन्नू (श्रीपत) की चिन्ता थी, बन्नू (अमृत) की चिन्ता थी, बडी सन्तान कमला की चिन्ता थी, रानी (शिवरानी देवी) की चिन्ता थी।

उन्हे 'हस' की चिन्ता थी, 'जागरण' की चिन्ता थी, सरस्वती प्रेस और प्रकाशन की चिन्ता थी।

उन्हे उस फरार बगाली की चिन्ता थी, छिप-छिपकर जिसे सैकडो रुपये दिये थे. .

उन्हे 'जमाना' (उर्दू मासिक) की चिन्ता थी, मरते दम तक जिसके लिए मजमून तराशते रहे...

उन्हे चिन्ता नही थी तो बस धनपतराय की !

हा, प्रेमचद को प्रेमचद की चिन्ता नही थी !

वह अच्छी तरह जानते थे कि दुबला-पतला लक्कड-सरीखा यह बीमार आदमी धनपतराय हो सकता है, प्रेमचद कोई और होगा। प्रेमचद कभी बीमार नही पडेगा। प्रेमचद हमेशा स्वस्थ रहेगा। प्रेमचद हमेशा जिन्दा रहेगा। कहकहे लगाता रहेगा।

तभी तो हानि-लाभ की भावनाओ से निर्लिप्त रहकर प्रेमचद अत तक लिखते रहे।

नीद नही आती थी।

बीमारी बढ गयी थी।

प्रेस जाना बद था।

फिर भी आप घरवालो की नजरे बचाकर उठ जाते और लिखाई चल पडती।

अगस्त १९३६...

मैक्सिम गोर्की की मृत्यु पर 'आज' (काशी) के दफ्तर मे मीटिग होनेवाली थी।

रात को प्रेमचद देर तक जागते रहे। नीद नही आ रही थी।

नीद जब रूठी ही रही तो आप उठकर लिखने लगे।

शिवरानी जी की आखे खुली।

उठकर पास गयी, बोली — 'रोज मना करती हू मगर आप मानते कहा है! आखिर यह क्या हो रहा है?' — कागज पर झुककर देवी जी ने कड़ाई से पूछा।

"कुछ नही" —प्रेमचद अपराधी स्वर मे बोले —"भाषण लिख रहा हूँ, कल गोर्की के लिए शोक-सभा है न ?"

"कल लिख लेना, अभी रहने दो !"

"नीद नही आती है।"

"तो यो ही आंखें मूदकर लेटे रहो।"

"जरूरी है, बिना लिखे काम नही चलेगा। और फिर अपनी खुशी से काम करने मे रत्ती भर भी तकलीफ नही होती...जाओ, तुम सो जाओ ! कही तुम्हारी भी तबीयत न खराब हो जाय..."

"मुझे भी नीद नही आती है।"

"अच्छा, लो ! रख दी कलम..."

'मगल सूत्र' के बीसियो सफे प्रेमचद ने अपनी मृत्यु-शय्या पर ही लिखे। "महाजनी सभ्यता" और "कफन" और प्रगतिशील लेखको की पहली कान्फ्रेन्स के लिए अध्यक्ष का भाषण...काफी-कुछ उन्होने हमें अपने अन्तिम क्षणो तक दिया।

"मै मजदूर हूँ। जिस दिन न लिखू, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नही है"—ये शब्द सिर्फ उनके होठो के आभूषण थे। प्रेमचद के बारे में उनका दुश्मन भी ऐसा नही कह सका।

१९२८ मे एक बार शिवरानी जी ने उनसे पूछा था—"स्वाराज्य हो जाय तो आप किसका साथ देंगे ?"

"मजदूरो और काश्तकारो का"—प्रेमचंद ने छूटते ही कहा था—"मै पहले ही सबसे कह दूगा कि मै तो मजदूर हूँ। तुम फावडा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनो बराबर है।"

देवी जी मुस्कुराकर बोली—"कहने से क्या होगा ? वे तुम्हारा विश्वास नही करेंगे।"

"क्यो नही करेंगे विश्वास ?" वह बोले। "जरूर विश्वास करेंगे। तब तक वे लोग पढ-लिखकर सयाने हो चुकेंगे। जब यहा किसानो और मजदूरो का राज्य होगा, मेरा खयाल है कि आदमियो की जिन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।"

"वह कैसे होगा ?" देवी जी ने पूछा।

"सुनो, वह इस तरह होगा कि अभी हमको रात-दिन मेहनत करने पर भी भरपेट रोटिया आराम से नही मिलती। रात-दिन कुछ-न-कुछ फिक्र लगी रहती है।"

"तो मजदूरो की अमलदारी मे फिक्रो से छुटकारा मिल जायेगा ?"

"क्यो नही मिलेगा छुटकारा ?" वह कहने लगे। "आज हमको मालूम हो जाय कि हमारे मरने के वाद भी वीवी-वच्चो को कोई तकलीफ नही होगी, तो हमारी सारी चिन्ता खत्म हो जायेगी। रात-दिन की यह तिगुनी पिसाई छूट जायेगी फिर तो। आदमी काम भी करेगा, आराम भी करेगा। आज तो चारो तरफ हाय-हाय मची है। समझदार का तो और भी बुरा हाल है..."[1]

यह था प्रेमचंद की दृष्टि मे स्वतन भारत का स्वरूप !



---

१ प्रेमचद घर मे पृ ११०, १११

स्वाधीनता-संग्राम के सिपाही

'सोजे वतन' ५ कहानियो का संकलन था। १९०९ के बाद पहली बार 'जमाना' वालो ने यह किताब उर्दू मे छापी थी।

वह लोकमान्य तिलक का युग था। गोखले का युग था। सत्य और अहिंसा दक्षिणी अफ्रिका में प्रवासी भारतीयों के युवक प्रतिनिधि मोहनदास करमचंद गांधी को अपनी ओर खींच चुके थे।

१९०५ तक आते-आते प्रेमचंद तिलिस्मी और ऐय्यारी और काल्पनिक कहानियो के चगुल से छूटकर राष्ट्रीय और क्रांतिकारी भावनाओ की दुनिया मे प्रवेश कर चुके थे।

'जमाना' के लिए उन्होंने अपने को अच्छी तरह तैयार कर लिया था। साहित्यिक टिप्पणिया तो उसमें प्रेमचंद लिखते ही थे अब सामाजिक और राजनीतिक मामलो पर भी जमकर लिखने लगे। निगम साहब के इर्द-गिर्द दसियो देशभक्त साहित्यकार और पत्रकार

बटुर आये थे। एक से बढकर एक। सभी को देश की गुलामी खटकती थी, विदेशी शासन की सुनहरी जजीरो के गुण गानेवाले गद्दार देशद्रोहियो के खिलाफ सभी के अंदर नफरत खौलती थी। शाम को 'जमाना' के दफ्तर मे घटो अड्डा जमता। प्रेमचद को राष्ट्रीयता की दीक्षा इसी अड्डे पर मिली थी। एक साधारण कथाकार वही 'युग-स्रष्टा साहित्यकार' के रूप मे ढलने लगा।

बडी से बडी बातो को सीधे और सक्षेप मे कहना या लिखना प्रेमचद ने यही सीखा।

'सोजे वतन' की प्रतिया जब्त की गयी, जला दी गयीं—यह तुम जान चुके हो।

इस घटना का प्रेमचद के हृदय पर गहरा असर पडा। साहित्य से अत्याचारी इतना अधिक क्यो घबराता है? अग्रेजी हकूमत ने तिलक को सुदूर बर्मा ले जाकर मडाले के जिले मे बद कर दिया था। वही अग्रेज-सरकार महीनो परेशान रही कि 'सोजे वतन' आखिर किसकी दिमागी खुराफात का नतीजा है। मामूली सी किताब, पतली-सी। सडियल किस्म का कागज था। लिथोवाली छपाई थी उर्दू की। कॅवर पर न लेखक का नाम ही छपा था, न प्रेस का पता-

ठिकाना था। गोरे कलक्टर-कमिश्नर बेहद परेशान थे...

लबे अर्से के बाद ही खुफिया वाले पता लगा सके थे।

'नवावराय' को आतंक भी हुआ।

'नवावराय' को प्रतिभा की अपनी अनूठी खूबी का अहसास भी हुआ। अकूत बल के घनी ब्रिटिश साम्राज्य के दर्जनो बडे हाकिम बौखला उठे थे।

मामूली निब-होल्डरवाला हमारा देहाती कथाकार अदर ही अदर मुस्करा रहा था।

किताबे जलती रही।

बागी साहित्यकार की आंखो के कोये सुलगते रहे।

१९३० मे प्रेमचद की कहानियो का एक और संकलन जब्त हुआ "समर-यात्रा"। प्रकाशित होते ही अग्रेज-सरकार ने इस पुस्तक को 'आपत्तिजनक' घोषित कर दिया। पुलिस सरस्वती प्रेस से किताब की सारी प्रतिया उठा ले गयी।

१९३० मे 'हस' (मासिक) निकला।

उसमे अग्रेज सरकार की निर्भीक आलोचना

होती। साहित्य के अलावा, समाज और देश की गरीबी...नौकरशाही की धाधली, नेताओ की ढुलमुल-यकीनी...इन सब मामलो पर प्रेमचद की निडर लेखनी कठोर व्यग्य करती।

फिरगी सरकार को यह कैसे बरदाश्त होता ?

छ महीने बाद ही साम्राज्यवादी सरकार ने 'हस' से जमानत मागी। पत्र बंद हो गया।

जनवरी १९३१ मे आर्डिनेन्स खत्म हुआ तो फिर से 'हस' ने उडान भरी। दो ही तीन महीने बाद उसमें 'कातिल' कहानी छपी। उसे खतरनाक करार दिया गया और 'हस' से फिर जमानत मागी गयी। उन दिनो प्रसिद्ध विद्वान बाबू पन्नालाल जी बनारस के कलक्टर थे। उनकी सिफारिश पर सरकार ने जमानत का हुक्म वापस ले लिया।

'हस' निकलता रहा।

१९३६ के जून महीने मे एक बार और नौकरशाही ने प्रहार किया। प्रेमचद बीमार थे, बचने की उम्मीद नही रह गयी थी। फिर भी 'हस' का बद होना उन्हें अखरा। नये सिरे से जमानत की रकम अदालत में जमा करवा कर प्रेमचद ने 'हस' का प्रकाशन पुन आरम्भ कर दिया।

१९३० मे प्रेमचद स्वय राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन मे कूद पडना चाहते थे। सत्याग्रहियो की कतार मे शामिल होकर पुलिस की लाठियो के मुकाबले आमने-सामने डटना चाहते थे।

किन्तु जेल जाने का उनका मनोरथ अधूरा ही रह गया।

पत्नी ने सोचा—कमजोर हैं, अक्सर बीमार रहते है। इनको जेल नही जाने दूगी।

सोचा—यह जेल जाकर बैठेंगे तो सारा घर चौपट हो जायेगा। आखिर हम मजदूर ही तो ठहरे। रोज मेहनत-मजूरी करो, रोज पेट भरेगा। कमानेवाला काम करेगा कि जेल मे बैठेगा जाकर ?

सोचा—मै ही सत्याग्रह मे शामिल होऊगी, मै ही जेल जाकर बैठूगी। यहा घर मे भी बैठी रहती हूँ, वहा जेल मे भी बैठी रहूँगी। यहा भी आराम है मुझे, वहा भी आराम रहेगा।

सोचा—पति और पत्नी एक होते हैं। हानि, लाभ, पाप-पुण्य, बदनामी-नेकनामी...सभी मे दोनो का बराबर का साझा होता है। मैं जेल जाऊगी तो इनका भी तो नाम होगा आखिर।

सो, वह आगे बढी। सत्याग्रही महिलाओ की

कतार मे शामिल हुई। गिरफ्तार होकर अपने जत्थे के साथ जेल पहुच गयी।

प्रेमचद मन मसोसकर रह गये।

मजबूरी थी।

तसल्ली भी।

हर परिवार से एक आदमी को जेल जाना ही चाहिए—उन दिनो यह भावना जोर पकड चुकी थी।

रहना तब लखनऊ मे होता था। 'माधुरी' के सम्पादक थे।

लखनऊ उत्तर प्रदेश (सयुक्त प्रान्त) की राजधानी होने के कारण राजनीतिक उथल-पुथल का केन्द्र थी।

शिवरानी जी खुद भी तब तक कहानी-लेखिका के रूप मे प्रसिद्ध हो चुकी थी। सच्चे अर्थों में प्रेमचंद की 'जीवन-सगिनी' बन चुकी थी।

नमक कानून टूटने लगा, नेता और स्वयसेवक जेल भरने लगे। बच्चे-बूढे और स्त्रिया, सभी अग्रेजी हुकूमत को कोसते हुए निर्भीक होकर गिरफ्तार होने लगे।

शिवरानी जी को नगर-कांग्रेस की वर्किंग-कमेटी में ले लिया गया। वह सभाओं में बहुत अच्छा बोलती थीं। संगठन का काम भी खूब करती थीं। लेकिन...

लेकिन क्या...

अखबारों में अपना नाम नहीं आने देती थीं—इस आशंका से कि प्रेमचंद को पता चल जायेगा!

जेल से रिहा होकर आयीं तो देखा प्रेमचंद बेहद दुबले हो गये थे।

पति ने कहा—रानी, तुम मुझ से छिपा-छिपाकर काम करती थीं। चोरी-चुपके आखिर जेल चली गयीं। मैं तो ठहरा हमेशा का मरीज, तुम्ही कौन हट्टी-कट्टी थीं?

पत्नी बोली—मैं डरती थी कि आप मुझे रोक देंगे और खुद जेल चले जायेंगे। अब आप इसे चाहे धोखा कहो, चाहे पाप कहो। मगर मैं मजबूर थी। मेरे दिल के अंदर एक प्रकार की बेचैनी रहती थी कि आखिर हमारे घर से कौन जेल जायगा, किसे जाना चाहिए। बच्चे इस काबिल होते तो मैं पहले उनको ही सत्याग्रह के लिए भेजती, वही जेल हो आते पहले। आप की तंदुरुस्ती ठीक रहती तो आप ही हो आते... मेरा वजन आखिर सात ही पाउंड कम हुआ है और

आपका चौदह पाउड . . कैसे मै आपको जेल भेजती ?

पति ने कहा—हा, मै तुम्हारी मजबूरी समझता था। मुझे खुशी भी होती थी और गुस्सा भी आता था।...

कई बार उन दो वर्षों के अदर जेल-यात्रा के अवसर आये, लेकिन शिवरानी जी ने प्रेमचद को गिरफ्तार नही होने दिया।

इस सिलसिले मे काफी नोक-झोक चलती।

"अपनी शकल तो देखो शीशे मे! हजरत रात-दिन पेट थामे रहते है अपना! यही जेल जायेगे ?"

"अबकी देख लेना! कैसे ठाट से जेल जाता हू और कैसी शान से फिर बाहर निकल आता हूँ।"

"आपका नाम तो कलम के जरिये फैल ही रहा है। अब क्या सारी शोहरत आप ही लूट लेगे ?"

यह दूसरी बात है कि वह कभी गिरफ्तार नही हुए, न कभी जेल गये। मगर प्रेमचद स्वाधीनता-सग्राम के ऐसे सेनापति थे जिसकी वाणी ने लाखो सैनिको के हृदय मे जोश भर दिया था।

'जेल' शीर्षक कहानी मे पहले रोज जुलूस

निकलता है, पुलिस वाले गोलीचार्ज करते है। बहुत से लोग मारे जाते है। अगले दिन फिर जुलूस निकलता है...

> "लोग कहते है, जुलूस निकालने से क्या होता है। इससे यह साबित होता है कि हम जिन्दा है, अटल-अडिग है और मैदान से हटे नही है ."

'आहुति' में कहानी की नायिका रूपमणि कहती है

> "स्वराज्य का यह मतलब नही कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाये ."

स्वाधीनता के लिए जनता की लडाई का समर्थन करते समय प्रेमचद यह कभी नही भूले कि आजादी केवल एक व्यक्ति के जीवन को सुखमय नही बनायेगी, केवल मुट्ठीभर आदमियो के लिए ही ऐश-ब-आराम नही लायेगी। यह बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय होगी!



बम्बई-प्रवास

कर्ज से घुटने लगे तो १९३४ मे प्रेमचद बम्बई चले गये।

जनता को सजग बनाने के लिए फिल्म कितनी अधिक कारगर हो सकती है, यह बात उन्हे अच्छी तरह मालूम थी।

सैकडो कहानिया और दर्जनो उपन्यास निकल चुके थे। छपी हुई किताबो की खपत का क्या हाल है, खुद प्रकाशक होने के नाते यह भी प्रेमचद मालूम कर चुके थे।

जनता तक अपनी बाते पहुचाने के लिए फिल्मो का सहारा लेना उन्हे अच्छा ही लगा। घर से उतनी दूर बम्बई नही जाना चाहते थे, लेकिन आमदनी का एक अनूठा अवसर यो कैसे छोड देते ?

'अजन्ता सिनेटोन फिल्म कम्पनी' ने बुलाया था।

नौ हजार प्रति वर्ष देगे और इसके साथ यह भी कि बम्बई मे एक साल रहने के बाद वे प्रेमचद को

दस हजार वार्षिक घर बैठे देगे!—कम्पनी वालो का यह प्रस्ताव उन्हे बम्बई खीच ले गया।

'हस' और 'जागरण' तो बन्द नही करने पडेगे!

रोजी-रोटी का झमेला तो मिट जायेगा!

फिल्मो के जरिये जनता तक तो पहुचेगे!

इतनी हाय-हाय तो नही लगी रहेगी!

इन्ही उम्मीदो के साथ जुलाई १९३४ के शुरू मे प्रेमचद बम्बई पहुचे।

फिल्म के लिए पहली कहानी उन्होने लिखी

कौन सी? सोचो..

'मिल मजदूर'!

उन दिनो बेकारी और मदी खूब फैल रही थी। मजदूरो और मिल मालिको मे सघर्ष तेज हो गया था। प्रेमचद फिल्म के जरिये देश के कोने-कोने मे अपने विचार फैला देना चाहते थे। सर्वहारा की जीविका का सवाल उनकी समझ मे जमाने का सबसे बड़ा सवाल था।

डाइरेक्टर हिन्दी नही जानता था न उसके साथी।

कुछ नयी बाते जोडी गयी, कुछ अश हटाये गये।

कहानी का ढाचा बदल गया।

प्लाट ही नही, भाषा तक बदल गयी।

शूटिंग शुरू हुआ।

जैसे-तैसे तीन महीने मे फिल्म तैयार हुई।

फिर भी मोटे तौर पर फिल्म मे काफी हद तक अच्छी बाते आ गयी।—मिलवालो का स्वार्थपूर्ण व्यवहार अन्याय . ज़ुल्म दमन . मनमानी : मजदूरों की दुर्दशा उनके परिवार की पामाली ।

इस फिल्म मे एक पचायत भी थी।

पचायत के प्रधान का पार्ट प्रेमचद ने खुद लिया था।

कहानी मे बेहद कतर-ब्योत की गयी। तोड-मरोड कर उसे कुछ-से-कुछ बना दिया गया।

कम्पनी को आशा थी कि फिल्म खूब चलेगी।

किन्तु 'सैन्सर' की कैंची ने ऐसा चमत्कार दिखाया कि डाइरेक्टर की आशा पर वज्र गिर पडा। कितने ही अच्छे सीन कट गये और कुछ छोटे हो गये। फिल्म तहस-नहस हो गयी।

कम्पनी ने कुछ दृश्यो का नये सिरे से शूटिंग किया। फिर भी 'सैन्सर' वालो को तसल्ली न हुई।

बम्बई-सरकार उस परकटी-अधूरी फिल्म को भी बर्दाश्त नही कर सकी, सिनेमा वालो पर उसने पाबदी लगा दी ‘मिल मजदूर’ का प्रदर्शन न किया जाय !

पजाब मे न मिले थी, न मिल मजदूर थे। इसलिए वहा के सिनेमा घरो मे एक अर्से तक यह फिल्म दिखलायी गयी। बाद को उधर भी पाबदी का आदेश जा धमका।

फिल्म के डाइरेक्टर थे मिस्टर भूटानी। वह हार मानने वाले जीव नही थे।

उन्होने फिल्म का नाम बदल दिया।

‘मिल मजदूर’ अब हो गया ‘गरीब मजदूर’.. अब मिल मालिक उसे देख सकते थे।

साल-डेढ-साल की दौड-धूप के बाद मिस्टर भूटानी ने सरकार से ‘गरीब मजदूर’ के प्रदर्शन की अनुमति हासिल कर ली।

इन झमेलो ने प्रेमचन्द को निराश कर दिया। बम्बई जाकर कुछ कर सकने के उनके सारे अरमानो पर तुषार-पात हो गया।

ने उस कहानी को तोड-मरोडकर क्या से क्या बना दिया !

'गोदान' (उपन्यास) के आखिरी पन्ने अभी नही लिखे गये थे । स्वास्थ्य भी बम्बई मे ठीक नही रहता था ।

१९३५ के बीचोबीच प्रेमचद बम्बई से लौटकर बनारस आ गये ।

फिर वही प्रेस ।
फिर वही प्रकाशन ।
फिर वही पिसाई !



ज़िन्दगी का आख़िरी छोर

रातो-रात जागकर प्रेमचद ने 'गोदान' खत्म किया।

देश मे राष्ट्रीय भावनाओ की एकता फैलाने की नीयत से 'हस' को प्रेमचद ने 'भारतीय साहित्य-परिषद्' के हवाले कर दिया। परिषद् ने आगे चलकर 'हस' को सरस्वती प्रेस (काशी) से हटा लिया। अब वह 'सस्ता साहित्य मडल' (दिल्ली) की निगरानी मे निकलने लगा और शत-प्रतिशत गाधीवादी प्रभाव मे आ गया।

प्रेमचद ने सम्पादको मे से अपना नाम हटा लिया।

सयोग ऐसा कि 'हस' पर सरकार फिर कुपित हो उठी। उससे फिर जमानत मागी गयी।

'भारतीय साहित्य-परिषद्' ने जमानत की रकम नही जमा की। 'हस' को मौत के मुह मे झोक दिया।

प्रेमचद से भला यह सब बर्दाश्त होता'

उन्होने जमानत देकर 'हंस' को फिर से जिला लिया यद्यपि उन दिनो वह खुद मृत्युशय्या पर जीवन के अन्तिम दिन गिन रहे थे।

'गोदान' छपकर निकल आया था।

मरते-मरते प्रेमचद एक और उपन्यास पूरा कर जाना चाहते थे—"मगल सूत्र"

चार ही अध्याय लिख पाये थे कि—

खाना नही हजम होता था।

खून कै करने लगे थे।

पेट मे पानी भर गया था।

दूध, बार्ली, फलो का रस तक नही ले पाते थे।

इतने पर भी काम करने की ललक पीछा नही छोडती थी, लिखने की अभिलाषा शात नही हो पाती थी, देश को अपने जीवन, अपने अनुभवो, अपने विचारो की अन्तिम बूद तक दे जाने की इच्छा चैन नही लेने देती थी ..

८ अक्तूबर १९३६

रात के पिछले पहर ..

प्रेमचद ने हमेशा के लिए अपनी आखे मूद ली।

अन्त काल मे लडकी कमला, दोनो लडके श्रीपत

और अमृत, शिवरानी देवी और जैनेन्द्रकुमार प्रेमचद के निकट मौजूद थे।

५६ वर्ष की आयु क्या कोई लम्बी आयु थी ?

सयोग तो देखो, विश्व के तीन महान उपन्यास-कारो —प्रेमचद, मैक्सिम गोर्की और शरतचद्र —का प्राणात उसी वर्ष हुआ।



अन्त में

फिर से मै सपनो की दुनिया मे पहुँच गया हू।

फिर से प्रेमचद के सामने अपने को पाता हू।

एक स्वस्थ-सुन्दर बुजुर्ग बैठा है, प्रेमचद की आकृति का। उम्र ८० से कम तो क्या होगी, ज्यादा ही होगी दो-एक वर्ष!

शाम का वक्त है, भादो का महीना।

कॉटेजनुमा छोटा-सा मकान। आगे मामूली-सा लॉन।

बेंत की तीन-चार आराम-कुर्सिया। बीच मे गोल तिपाई।

प्रेमचंद हुक्का गुडगुडा रहे है।

मुझे देखकर मुस्कराने लगे .

"आओ, आओ! मै सोच ही रहा था तुम्हारे बारे मे "

"हां, बीच रास्ते मे हमारा रिक्शा दम तोड़ बैठा। दूसरा देर मे मिला।"

उस पर प्रेमचंद कहकहे लगाकर हसने लगे।

बोले—"अभी चार रोज पहले पडित सुन्दरलाल और बनारसीदास चतुर्वेदी आये थे। उनकी भी किस्मत मे यही सडियल टाइप का रिक्शा बदा था।"

फिर ठहाके, फिर कहकहे...

फिर एकाएक गभीर हो उठे।

कहने लगे—"उस रोज उनका रिक्शावाला धसी आखो वाला, पके बालो वाला, बूढा था कोई, देखो, एक औसत हिन्दुस्तानी बुड्ढे का क्या हाल है।"

फिर वह उसी तरह हुक्का पीते रहे।

थोडी देर बाद मैने पूछा—"बार-बार [illegible] आपको बुला रहे है, आखिर आप हो क्यो नही आते ?"

"मै यही से सब कुछ देख रहा हू"—बोले और हुक्के को परे हटा दिया। मुस्कराते रहे। 'सुन्दरलाल जी और चतुर्वेदी जी इसीलिए तो आये थे। [illegible] गये कि मुझे बाहर जरूर हो आना चाहिए। यह भी बतला रहे थे कि हवाई जहाजो से जाना-आना अब बेहद आरामदेह हो गया है, जरा भी तकलीफ नही होगी ..'

'[illegible] पर [illegible] अकोर रहते है।"

"अगले वर्ष हो आऊगा, तुम्हारी माता जी (शिवरानी देवी) भी साथ रहेगी।"

"और आपको, सुना है, राज्य सभा की सदस्यता के लिए कहलवाया गया था। 'ना' कर दिया आपने ?"

"हैं ही तो भाई लोग वह कौन मसला है जो मेरे बगैर हल नही हो रहा है ?" जोर के कहकहे लगाये प्रेमचद ने। "अब तुम कहोगे कि पद्मभूषण का तगमा क्यो नही लेना चाहा मैने ?" इस बार और भी जोरो के ठहाके।

अदर से शिवरानी जी निकल आयी। बोली · "इतने ज्यादा कहकहे लगाओगे तो सोते वक्त सीना दर्द करेगा .."

"तो अब इस बुढापे मे तुम्हे मेरा हसना भी अखरता है ? लो, भई, नही हसेगे !"

इस पर अम्मा को भी हसी आ गयी और मुझे भी।

बाबू जी ने कुछ रुककर कहा—"इसे कुछ नाश्ता-वाश्ता नही दोगी ?"

"आता है नाश्ता, महाराजिन से कह आई हू। . .क्यो रे नागा, अपनी किताब नही लाया ?"

"हु हु , किताबो के लिए नागार्जुन मे कुछ न

कहो।" प्रेमचद बोले। "बेहद महगी है इसकी किताबे ..."

"अपनी किताबो के दाम आपने इधर मालूम किये है, बाबू जी?"—मैने आहिस्ते से कहा।

"मै तो अब रिटायर्ड हूँ, पेन्शन पाता हू। अपनी किताबो के बारे मे उतना भी नही जानता जितना तुम जानते हो।" वह बोले।

माता जी उठकर बरामदे मे गयी, स्विच ऑन कर दिया। टेबुल फैन चल ही रहा था, अब रोशनी भी हो गयी।

फिर वह अन्दर चली गयी, शायद पान के लिए।

प्रेमचद ने धीमी आवाज मे कहा—"अब हम उन दिक्कतो को काफी पीछे छोड़ आये। [illegible] चालीस वर्ष पहले या तीस वर्ष पहले [illegible] जो दुर्दशा थी, आज वह नही है। मेरा सारा साहित्य [illegible] से छपता है और [illegible] से बिक रहा है। मेरे [illegible] कालेजो मे पढाये जाते है। हजारो लाइब्रेरियां [illegible] सेट किताबे खरीद रही है। [illegible] और [illegible] ने [illegible] सारा झमेला सम्भाल लिया है। दोनो [illegible] मे लग गये है। दोनो के एक [illegible] अपनी-अपनी [illegible] है।"

"लेकिन आप तो लमही से बाहर शायद ही निकलते होगे। अधिक से अधिक बनारस तक हो आते होगे.. कैसे जाते है ?"

"अरे, अब हमारा अपना तागा है।" प्रेमचद ने कहा। "कडियल घोडा है। साईस है, जो बागवानी भी जानता है। कल तुम्हे सारनाथ घुमा लायेंगे। परसो चाहे विश्वविद्यालय हो आना। छठे-छमाहे इलाहाबाद से बन्नू (अमृत) आ जाते है गाडी लेकर, अपनी मा को लाद ले जाते है इलाहाबाद। अबकी अठारह महीने बाद मै भी इलाहाबाद हो आया हू, चार-छै रोज रह आया। अब बडा अच्छा हो गया है। हम बूढे-बुढिया दोनो बहुओ को सेवा के लिए समान अवसर दे आते है, दोनो मे नेह-छोह की अपनी प्रसादी बाट आते है। बस, अब दो ही इच्छाए मेरी अधूरी रह गयी है..."

मै उत्सुक होकर प्रेमचद की ओर देखने लगा कि क्या कहने वाले है।

महाराजिन आकर नाश्ता रख गयी थी।

बाबू जी ने इशारे से कहा— "शुरू करो, चाय आ रही होगी। और यह क्या करने लगी अन्दर ?"

इतने मे शिवरानी देवी पान की डब्बी लिये वापस आ गयी।

बैठकर बोली—"नागा, तू भारी पाजी है। बहू को कभी नही लाया "

प्रेमचद ने हस कर कहा—"सन्यासी ही तो ठहरा!"

जल्दी-जल्दी नाश्ता खत्म करके मैंने पूछा—'बाबू जी, आप कह क्या रहे थे? दो इच्छाए अधूरी रह गयी है "

वह बोले—"पहली इच्छा, खेत मजदूरों के बारे मे है कि गाव का एक-एक भूमिहीन गुजारे लायक खेत हासिल कर ले। दूसरी इच्छा शहरी मजदूरों के बारे मे है कि पुराने या नये कारखाने या घर-घर प्रत्येक गुजारे लायक वेतन और भत्ता हासिल करे। कभी उनकी छटनी न हो। पिसाई कम हो आराम ज्यादा।

"लो, पान लो"—सिवरानी जी ने पान देते हुए कहा—"इनकी दो इच्छाए और है जो इन्हें बेचैन किये रहती है।"

और अधूरी है। वे इन्हे खरोचती रहती हैं... एक तो है 'हस' के बारे मे। 'हस' का न निकलना इनको बेहद अखरता है। दूसरी इच्छा है अपने उपन्यासो के पाकेट-एडिशन के बारे मे। सेवासदन, रगभूमि, प्रेमाश्रम, गोदान वगैरह पाकेट-एडिशन मे छपे और घर-घर मे दिखायी पडे..."

प्रेमचद ने फिर भी कुछ नही कहा। गुमसुम बैठे रहे।

उधर तागेवाला घोडा हिनहिनाया और इधर मेरी नीद टूट गयी।

